ये फूल नहीं (1970)

अजित कुमार

ये फूल नहीं (1970)

कवि की भूमिका

तो क्या मैं केन्द्र में दिखूँ ? या कोई ऐसी कलाबाज़ी दिखाऊँ, जिसके आगे बाकी सब धराशायी नज़र आएँ ? नहीं, मैं जहाँ हूँ, वही मेरा केन्द्र है और कलाबाज़ी जो कुछ भी है, बस, मेरी न-कुछ कलाकारी है। अपनी प्रकृति के निकट रहना ही मेरे लिए एकमात्र रहना है।

तथापि यह स्पष्ट नहीं, स्वयं मुझे भी ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि जिसे अपनी प्रकृति मान सकूँ, वह क्या है ? शायद यह अनिश्चितता, यह ठीक-ठीक किसी साँचे में अपने को न बिठा पाना ही मेरी प्रकृति हो ! शायद उसीकी अभिव्यक्ति ये कविताएँ हैं : एक सुगठित व्यक्तित्व बना लेने की कोशिश से दूर, फिलहाल, अहेतुक और किसी क़दर अनगढ़।

शुरू से ही मुझे कवि का मूर्ति बन जाना नापसंद था। मूर्तिबद्ध कवि मुझे कुछ जकड़ा, कुछ मरा-मरा-सा लगता रहा। अकसर मैंने सोचा, कवि मूर्ति को तोड़कर, अपनी चौहद्दियों के पार चला क्यों नहीं जाता ? फिर सोचा, यह मुश्किल होता होगा, अपने को एक बार बनाना, फिर उसे तोड़ना। हरेक के लिए यह संभव नहीं कम-से-कम मेरे लिए कदापि नहीं। इसलिए, मैंने अपने को या अपनी रचना को किसी विशेष अर्थ या रूप में ढालने का कोई प्रयत्न नहीं किया। मैं वैसा चाह भी नहीं सकता था। जितना कुछ मैं अपने को जान सका हूँ, उसके आधार पर कह सकता हूँ, यही मेरी प्रकृति थी, यही मेरी नियति थी।

उसीका परिणाम ये कविताएँ हैं- हवा के झोंकों में, उदास वीराने में, कड़ी धूप में चुप-चुप भरती हरी-पीली पत्तियाँ। असंख्य होकर भी असहाय और नगण्य। लेकिन शान्त। आकांक्षारहित। उन्हें कोई खेद नहीं, कोई पछतावा नहीं। उनका जो भी काम था- वृक्ष, शून्य, धूप, मिट्टी के लिए- वे पूरा कर गई हैं।

ध्वंस, भीड़, औरत, भारत आदि मूर्तियों के श्रृंगार के लिए मेरे पास- ये फूल नहीं- केवल हरी-पीली पत्तियाँ है ! झरी, खंडित, परित्यक्त ! इन्हें घास की पत्तियाँ कैसे कहूं ! जानता हूँ कि 'पैरों तले की घास' प्रत्येक अर्थ की 'अलंकृति' करने में समर्थ है- वह दूर-दूर तक फैली...जीवंत, हठी और संपृक्त है, निरुद्विग्न देखती हुई: 'अब झरा, अब झरा... पतझर का सूखा, पीला पत्ता।'

शुरू-शुरू में लगता था कि कविता लिखकर और उसे प्रकाशित कर, मैं नग्न हो गया हूँ। पर धीरे-धीरे मैंने कविता में अपने को उभारने की जगह, छिपा देने की आदत डाल ली। इसके बावजूद, मेरी वह आशंका आज भी मिट नहीं सकी है कि जिसे मैं अपने मन की गहरी-से-गहरी पर्तों में दबाये हुए हूं, वह मेरे अनचाहे और अनजाने, कविताओं की शक्ल में उभर-छलक उठा है। घबराकर मैं उसे, यानी अपने को, जितना ही छुपाने की कोशिश करता हूँ, उतना ही वह अनावृत होता जाता है। इसकी तुलना में, सच कहूँ तो, मेरी पहले की नग्नता सतरंगी पोशाकों में लिपटी साज-सज्जा थी। उन दिनों उसकी लाज में मैं घबराया-घबराया रहता था, आज पूर्ण दिगंबरता की बेशर्मी को ढिठाई के साथ ओढ़े हूँ। किन्तु कातरता और असहायता तनिक भी कम नहीं हो पाती।

अपनी प्रारंभिक युवावस्था में कभी-कभी मुझे वे कविताएं पढकर हैरानी होती थी, जिनमें प्रियतम को एक साथ ही 'दूर भी' और 'पास भी' या 'मुक्ति भी' और 'पाश भी' बताया जाता था। मेरा अनुभवहीन मन इसे स्वीकार न कर पाता था। मैं समझ न पाता था कि एक ही समय में कोई 'शाप और वरदान' दोनों क्योंकर हो सकता है ! आज भी, ठीक-ठीक तो नहीं मालूम, पर जीवन का यत्किंचित परिचय पा चुकने के बाद, मेरा ख़याल है कि वे कविताएँ कुछ इतनी उपहासास्पद न थीं। उनमें मानव-अनुभव का आदिम, रहस्यवादी या छायावादी एक निचोड़ था। अणुयुग और अंतरिक्षयुग में पहुँचकर भी, मानव-जाति जिस तरह 'मिल गया, मिल गया' घोषित करती हुई भी, गहरे अँधेरे में खुद अपने को टटोलती, अपनेआप को बहलाने का प्रयास कर रही है, उसे देखते हुए तो यही कहने का मन होता है कि वे कविताएँ आज की अनेक फूहड़-फ़िजूल कविताओं से कुछ अधिक फूहड़-फ़िजूल न थीं। एक कीड़े को मारना जिस दुनिया में समूची मानव जाति को खतरे में डाल देना सिद्ध कर दिया गया हो, उसमें रहकर भी यदि हम 'जीव मात्र पर दया' के विचार की हँसी उड़ाते रहेंगे तो कदाचित अपने को ही उपहास का विषय बनाएँगे। घूम-फिरकर इसी नतीजे पर, बल्कि इसी नियति पर पहुँचना पड़ता है कि चीजें जैसी भी है, वैसी हैं, उनका

बदलना-न बदलना भी जैसा है, वैसा है: 'अस्वीकार की मुद्रा को कर अस्वीकार। स्वीकृतियों के स्वर्णिम युग में प्रवेश करती है मनमौजियों की तरंग: खिलने से न रोको पत्तियों को। दरवाज़ों को खुलने दो।'

''स्वीकृतियों का यह स्वर्णिम या अग्निम युग कुछ भी हो, मेरे लिए ''जो भी है, जैसा भी है, सहर्ष स्वीकारा है'' के मुक्तिबोध के साथ एक भंगिमा है और किसीको आश्चर्य न होना चाहिए, स्वयं मुझे भी नहीं, यदि इसके भीतर कहीं गहराई में, संपूर्ण तिरस्कार तथा निरपेक्ष नकार अन्तर्हित हो।

ठेकेदारों, सूदख़ोरों, बिचौलियों, एकाधिपतियों, कालेबाज़ारियों, रिश्वतख़ोरों, सत्ताधारियों, नौकरशाहों, मंत्रियों, दलबदलुओं की विष-बेल ने इस देश का रस चूसकर इसे खोखला बना देने की भरपूर कोशिश की है। यहाँ तक कि व्यंग्य-आलोचना, विरोध-प्रतिरोध के तमाम हथियार भोथरे प्रतीत होने लगे हैं। उलटे इन हथियारों की बची-खुची धार का प्रयोग उन लोगों के खिलाफ़ किया जाने लगा है, जो ग़रीब हैं, मज़दूर हैं, छोटे किसान हैं, बेसहारा हैं, शासित हैं, भूखे-नंगे हैं, निरक्षर हैं, बेघर-बेज़मीन हैं, कुल मिलाकर एक शब्द में कहें कि जो 'देश' हैं। सत्ता और पूँजी ने इस 'देश' में व्याप्त उदासीनता, भाग्यवाद, हताशा और भुखमरी का फ़ायदा उठाकर विद्रोह को भी मानो अपने पक्ष में कर लिया है। फलत: विद्रोह या तो शान्त पड़ जाता है, या समझौता कर लेता है या अपने ही पक्ष को दग़ा देता है। विद्रोह की इतनी करुण नियति कि 'विद्रोह' पर से धीरे-धीरे विश्वास ही उठने लगे, हमें कहाँ लिये जा रही है, विचारणीय है।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि 'विद्रोह' स्वीकृत नहीं तो 'यथास्थिति' ही स्वीकृत क्यों हो ? वस्तुत:, स्वीकार का अर्थ मेरे लिए सब कुछ का स्वीकार है, यथास्थिति मात्र का नहीं, विद्रोह का भी स्वीकार। यह मुद्रा उस व्यक्ति की है, जिसने जीवन को उसकी पूर्णता तथा स्फुटता में ग्रहण करना और उससे किंचित निस्संग रहना चाहा है।

कभी-कभी मुझे लगता है कि ये गोल-मोल, घुमाई-फिराई बातें 'बस उसी एक घेरे में' चक्कर काट रही हैं, पर उस घेरे से निकालकर, इन्हें किसी सीधी गति में तीर की तरह छोड़ देना भी, मुझे महज़ अपनेआप को झुठलाना ज्ञात होता है, क्योंकि देखता हूँ, वह तीर भी जाकर या लौटकर एक वृत्त में बँध गया है और भँवर-जाल बिलकुल पहले की तरह है। अरबों-खरबों वर्ष पूर्व हमारी सृष्टि का निर्माण हुआ होगा,

अरबों-खरबों वर्ष बाद कदाचित यह नष्ट होगी, किन्तु उसके पहले और बाद क्या था, और क्या होगा- कोई जानता है ?

यही नहीं, सृष्टि के ठोस अस्तित्व के दौरान भी इसकी गति-विधि क्या रही है : यह अंतरिक्ष में दौड़ती-भागती कहाँ चली जा रही है ? घेरे में चक्कर काट रही है तो उस घेरे के पार क्या है ? और तीर की तरह सीधी जा रही है तो कब, कहाँ पहुँच, किससे टकराएगी ? ये प्रश्न आध्यात्मिक हैं या वैज्ञानिक ? इसका फ़ैसला कौन करे ! पर आज सात सितंबर सन् सत्तर की सुबह (कितना खिलवाड़ लगता है इन तिथियों के संदर्भ में बात करना, पर देश-काल की अर्राती दूरियों के पार्श्व में यह कितना आत्मीय है, विश्वसनीय और निकट) मकान के सामने की दीवार पर लगी काई... छत पर दाना चुगते कपोत-कपोती... उत्तर दिशा में दूर घिरती घन-राशि, अलगनी पर सूखते रंग-बिरंगे कपड़े.... ये उलझी-बिखरी पंक्तियाँ.... एक सहमे हुए दिल की धकड़न : सब कुछ कितना निरर्थक है, साथ ही कितना सार्थक। दोनों दो हैं ? या हैं वे एक ही ? मुझे ज्ञात है (यह कि) मुझे ज्ञात नहीं !

कठिनाई यह है कि इस रहस्यवादी-अराजकतावादी दिखावे के बावजूद, मैं रचना की गतिशीलता और सार्वजनिकता का क़ायल हूँ। दो प्रतिकूल और भिन्न-भिन्न छोरों को ज़बर्दस्ती एक-दूसरे से जोड़ने की नटविद्या नहीं, बल्कि जीवन तथा कविता के बने-बनाए और कटे-कटाए फार्मूलों से बच निकलने की हठधर्मी : अधिक- से-अधिक, मैं उसे यही नाम दे सकता हूँ।

इस संग्रह की सब कविताएँ **'अकेले कंठ की पुकार'** और **'अंकित होने दो'** के बाद की नहीं हैं। मन के किसी मोहवश, मैंने वे कुछ कविताएँ भी सम्मिलित कर ली हैं, जो 1958 और 1962 में प्रकाशित उन संग्रहों में से छोड़ दी गई थीं। अभी, ऐसी कितनी ही कविताएँ मेरे कागज़-पत्तर में दबी पड़ी होंगी। कौन जाने, कोई और संग्रह प्रकाशित करने की ढिठाई मैं कभी कर ही बैठूँ। उसमें भी, मैं नई-पुरानी सभी कविताएँ रखना चाहूँगा। उतरते हुए ज्वार के पीछे छूट गई सीपियाँ चुनते-चुनते, मेरा मन भटककर उन स्मृतियों को टटोलने लगता है, जो मेरे जीवन में चढ़ते हुए ज्वार के साथ जुड़ी है। मेरे पास अनेक कविताएँ हैं- सीधी, सरल, रूमानी, गीतात्मक, पिछड़ी हुई। आज की मेरी टूटन से उनका कोई खास मेल नहीं। पर उनमें कुछ है कि मैं उनके प्रति उनसे दूर जा पड़ने पर भी कृतज्ञ अनुभव करता हूँ और यह जानते

हुए भी कि गुज़री हुई दुनिया लौट कर नहीं मिला करती, वापस पाने की कामना करते हुए, विदा लेना चाहता हूँ। यह एक अभिशप्त यात्रा है, भागने और जूझने की दोहरी कशमकश में घिरे व्यक्ति की।

वह दरार कहाँ है ? खोजने की मैंने बड़ी कोशिश की। दिमाग में कि जिन्दगी में कि दुनिया में कि अस्तित्व में ? मुझे तो वह हर जगह दिखी। बचपन में पढा था : 'जा नहीं सकता कभी शीशे पे बाल आया हुआ'- पर आज तक वह शीशा मुझे न मिला, जिस पर कोई बाल आया ही न हो।

मैंने अपने को यह समझाकर सान्त्वना दी कि 'मेले में आया... बच्चा' ज़रूर एक खुश और अपनेआप को भूल सकने वाला नन्हा व्यक्ति होगा। पर मेले को उजड़ता और बच्चे को बूढ़ा होता देखते –देखते मेरा जीवन बीता है। फिर भी, इतना ही कहना, अनुभव को उसके अधूरेपन में कहना होगा। सच तो यह है, मैंने बार-बार देखा: मेला फिर से जुड़ आया है और बूढ़ा होता बच्चा फिर से शिशु हो गया है। किस रहस्यपूर्ण प्रक्रिया से यह छायालोक बार-बार मेरे जीवन और मन में कौंध उठता है, यह तो नहीं जानता, पर कवि की उस मुद्रा ने मुझे सदा आश्वस्त किया है: अनुभव की मृत्यु-घाटियों से गुज़रने के बाद भी शिशु की भाँति निर्मल, निश्छल और जीवंत।' मुद्रा या भंगिमा इसके लिए उचित शब्द नहीं। आस्था या निष्ठा भी नहीं। मूलत: यह एक भाव है या स्वत: जीवन– मृत्यु से घिरा, जूझता, हाँफता जीवन। 'सौ-सौ मरणों से अधिक मरण' होते हुए भी जीवन।

उसे बचाने का अर्थ तन को बचाना न कभी था, न हो सकता था। 'लकड़ी की तरह जलते हाड़, घास की तरह जलते केश'... सब तन को जलते देख कबीर उदास हो गया। आत्मरक्षा की कोई आशा थी तो इसीमें थी। पर यह उदासी कितनों को नसीब होती है ! कामना तो मैंने भी की थी : ''नहीं काबा, नहीं कासी। नहीं ईश्वर अविनासी। नहीं भक्त। नहीं दासी। नहीं चाहिए मुझे वह पुरानी हँसी बासी। किंतु देना ही हो, और दे सकते हो, तो दो मुझे उदासी।'' (...काश, माँगने से सब कुछ मिल सकता और कामना करते ही हम पा जाते, अपने को जो समझते, वह हो पाते।)

इस उदासी और शिशु-सुलभ निर्मलता के बीच यदि कोई सेतु है तो वह 'अनुभव की मृत्युघाटी' है और फिर किसी व्याख्यातीत प्रक्रिया से घुलमिल कर वे सब 'जीवन-रस' बन जाते हैं। एक दूसरे को सिंचित करते। देते और पाते। बनाते और होते।.....

नहीं जानता, यह केवल संयोग है या कोई दुरभिसंधि कि हिंदी कविता को अधिकतर हिंदी के कवि ही पढते हैं। ('पढ़ते हैं' की जगह 'नापसंद करते हैं' कहना ज्यादा ठीक होगा, क्योंकि कवियों को दूसरों की कविता अधिकतर नापसंद होती है।) सक्रिय आलोचक या इक्के-दुक्के छात्र भले कभी उसे 'हाथ लगा दें' वरना अकसर वह अनबिकी पत्रिकाओं, प्रकाशकों के गोदामों और पुस्तकालयों के उपेक्षित कोनों में 'सुरक्षित' पड़ी-पड़ी क्लासिक बनने के सपने देखा करती है। दशा तो इस पुस्तक की भी वही होनी है। बहुत हुआ तो कुछ स्नेही बंधु वत्सल भाव से और व्यंग्य से इसे स्वीकार कर लेंगे। (वह भी तब जब यह उन्हें उपहारस्वरूप मिलेगी, किन्तु उस समय कदाचित इसके प्रति उपेक्षा की भावना उनमें अधिक होगी।) अत: इन कविताओं के मेरी नोटबुक में बंद रहने और पुस्तक में छप जाने के बीच कोई विशेष अंतर नहीं, सिवा इसके कि छपकर ये मुझसे कुछ और अलग तथा दूर जा पड़ी हैं। तथापि इन्हें मैंने एक मामूली व्यक्ति की भांति, मामूली बातों को मामूली भाषा में व्यक्त करने के लिये लिखा था और मामूली लोगों के लिये ही इनमें, हो सकता था तो, कोई अर्थ हो सकता था। गैर-मामूली लोग- तनाव, संत्रास, सृजनात्मक भाषा, प्रतिबद्धता, दुरूहता की ऊँची दुनिया में ही सदा रहने वाले ऊँचे-ऊँचे लोग इनमें शायद कुछ भी न पा सकेंगे।

बहरहाल, कविता को लेकर खिलवाड़ मैंने कभी नहीं किया। उसे मैंने सदैव गंभीर वस्तु समझा और जाना है। यह बात दूसरी है कि उसे किसी बड़ी ऊँची गंभीरता का रूप देने से मैंने बचने की कोशिश की। अति गंभीरता की मुद्रा मेरी रूचि-प्रकृति के अनुकूल न थी। इसलिए अकसर मैंने अपने अनुभव को प्रयत्न करके तरल अथवा पतला बनाना चाहा। शायद ही कोई शब्द या अर्थ या भाव मेरी कविता में ऐसे आए होंगे, जिनके कम-से-कम एक स्तर को मैं खुद अपने तईं न समझता होऊँगा। बहुत बार अभिव्यक्ति के सीधी-सपाट हो जाने का ख़तरा उठाकर भी मैंने इस उद्देश्य को बनाए रखने की कोशिश की है कि जो भी लिखूं, वह किसी-न-किसी स्तर पर सहजगम्य हो सके।

पर ऐसा मैंने अपनी कविता को बेच पाने के ख्याल से नहीं किया। यह मैं थोड़े विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि कविता को मैंने कभी किसी दूसरी चीज़ का स्थानापन्न नहीं बनाया। अपने जीवन की इस आवश्यकता को भुना कर कोई और चीज़ हासिल करने की ज़रूरत मैंने नहीं समझी। वह न किसी वस्तु के स्थान पर थी, न कोई अन्य वस्तु उसका स्थान ले सकती थी। इसका यह मतलब नहीं कि कविता मेरे जीवन में किसी अत्यंत विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी थी। ना, ना ! वह केवल थी, जैसे कि और चीज़ें थीं- तिल, उँगली, रोयें, माथे की सिकुड़न, पिता के लिये प्रेम, शाम के वक्त काम से लौटने पर थकान। बस, कुछ-कुछ ऐसी ही मेरे लिये कविता थी और बहुत अंशों में आज भी है।

इस देश के औसत शिक्षित लोगों की ही तरह, मैं भी गाँव से क़स्बे.. कस्बे से शहर... शहर से बडे शहर में पहुंचा और पिछले बीस सालों से लगातार वापस गाँव जाने के सपने देखता, झींकता, गुर्राता आख़िरकार बड़े शहर में ही मरूँगा। बीच में जब भी अपना, या और कोई गाँव देखा, मेरा सपना टूटता गया। पर कुछ तो होगा कि आज भी चारो ओर की टूटन के बावजूद, मुझमें अपने बचपन के गाँव-गलियारे, पोखर-अमराई, कोल्हू, घाट, तोरई के फूल ही विशेष रुप से अंकित हैं : मूसलाधार वर्षा में कच्ची कोठरी की आधी ढही छत के नीचे शरण की भाँति। एक बचपना ही था शायद.. यह चाहना कि हम बचपन में ही बने रहें। यह एक तरह से अधर में उलटे लटके रहना था। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं इस स्थिति के स्वीकार और तज्जन्य पीड़ा की कविताएँ हैं। पीड़ा एक बड़ा शब्द है। उसे वापस ले, सुधारकर कहूँ : छटपटाते-छटपटाते क्रमश: शान्त पड़ जाने की कविताएँ। एक समूची दुनिया के, मेरी अपनी ही दुनिया के- बनने के क्रम में ही – मिट जाने की कविताएँ।

इन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने के लोभ से मैं बहुत दिनों तक बचता रहा। आज भी, इनके प्रकाशन के अवसर पर प्रसन्नता की अपेक्षा खिन्नता का ही भाव अधिक प्रबल है। खिन्न इसलिए भी हूँ कि अपनी तमाम कविताओं में अपने को मैं बहुत कम पाता हूँ, और उससे भी कम उसको- जो मुझमें अच्छा है, यदि कुछ है तो। मन का मोती यदि कहीं होगा तो मन के भीतर ही लुका-छिपा होगा। बाहर तो केवल मन का कूड़ा-कचरा ही निकल पाया है जिसे मैंने कभी 'अँजुरी भर फूल' समझा था... कभी नभ को रंगों से भर देने के बाद बुझती-झरती फुलझरियाँ... और कभी हरी-पीली पत्तियाँ। लेकिन मेरे समझने-न-समझने की कोई विशेष प्रासंगिकता क्यों हो ? जिसे जीवन भर मोती समझ सँजोये रखा हो, वह अकसर काँच का

टुकडा निकलता है और सूखी-मटमैली, उदास फूल की एक पंखुरी कभी-कभी जीवन का गहनतम आधार बन जाती है। तो फिर इस बहस में क्या पड़ना !...

रही भूमिका की बात... तो वह भी मेरे लिए एक तरह की कविता ही है। बहुत-सी बातें मन में मथती-उफनती रहती हैं। उनमें से कुछ यहाँ झाग की तरह उठ आई हैं, कुछ देर में बुझ या मिट जाएँगी- झाग की तरह। सिर्फ़ अफ़सोस रह जाएगा कि इन्हें क्यों बाहर आने दिया।

-अजितकुमार

\

अन्तर

जो कल था वही आज भी है
छल
सिर्फ़ बँधने के लिए
मन
उतना सरल नहीं रहा।

वही मोर नाचे वन में,
उसी
पूरे संतुलन में,

पर
अधूरापन एक
जाने कहाँ
करकने लगा !

लुप्त प्रकाश

वह प्रकाश मुझे दिखा तो
किन्तु मानो दिखने से पहले ही लुप्त हो गया
मैंने उसे खोजा यहाँ, वहाँ अरे कहाँ-कहाँ !
जहाँ भी गया, मुझसे पहले जा चुका था वह।

फिर भी भटकता रहा
क्योंकि मुझे चाह थी : पाने की उसे-
जबकि मिलती थी मुझे सिर्फ़ उलझन, उलझन, उलझन।